जैनधर्म में अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव एवं इतिहास

- प्रो. नरेन्द्र भानावत

जैनधर्म का वैशिष्ट्य

जैनधर्म मूलतः आत्मवादी धर्म है। इसमें ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता न मानकर, उसे आत्म-चेतना की चरम विकास की स्थिति में देखा जाता है। व्यक्ति को सुख-दुःख ईश्वर के द्वारा देय नहीं है। आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है। सद्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा मित्र रूप है जबकि दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा शत्रु रूप है --

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठियसुप्पट्ठिओ" ।। 1 ।।
- उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37

भगवान महावीर ने साधना के केन्द्र में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य की पुरुषार्थ-साधना को प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोषणा की कि मनुष्य में अनन्त-शक्ति विद्यमान है। उसे साधना के द्वारा जाग्रत कर वह परमात्मदशा को प्राप्त हो सकता है। परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, वह मनुष्य के अन्तर्जगत में प्रतिष्ठित है। अतः बाहरी युद्धों की निरर्थकता घोषित करते हुए उन्होंने अपने ही विकारों से युद्ध करने को, उसमें विजय प्राप्त करने को परम विजय बताया। अन्तिम देशना में उन्होंने स्पष्ट कहा -- जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा जो अपने आपको जीतता है, वह परम विजय है --

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ" ।।2 ।।
- उत्तराध्ययनसूत्र, 9/34

आत्मविजय में सबसे बड़ी बाधा व्यक्ति के स्वयं के मनोविकार हैं, जिन्हें राग-द्वेष कहा गया है। अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष के कारण व्यक्ति संकल्प-विकल्प करता रहता है। मन, वचन, काया के द्वारा राग और द्वेष की वृत्तियों से बंधकर व्यक्ति अपनी आत्म-शक्तियों को आच्छादित कर लेता है। शास्त्रीय भाषा में इसे कर्मों का आवरण कहा गया है। राग की अभिव्यक्ति माया, मोह, भोग, लोभ आदि में होती है और द्वेष की अभिव्यक्ति क्रोध, मान, ईर्ष्या आदि में इन्हें कषाय कहा गया है। काषायिक वृत्तियों द्वारा मनुष्य सांसारिक प्रपंचों में कसता जाता है। परिणामस्वरूप उसकी आत्म-शक्तियाँ मन्द और कुंठित हो जाती हैं, वह पराधीन होकर जड़ पदार्थों से बंधता चलता है। जब तक वह इन कर्म-आवरणों से अपनी आत्मा को अलग नहीं कर लेता, विकारों को नष्ट नहीं कर लेता, तब तक अखण्ड, अक्षय, आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। जब वह संयम द्वारा नये आने वाले पाप कर्मों को रोक देता है और तप के द्वारा संचित पुराने कर्मों को नष्ट कर देता है, तब वह वीतराग बन जाता है। वीतरागता की प्राप्ति ही सच्ची मुक्ति है। सम्यक्-ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना कर वह आत्म-शक्ति का घात करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर देता है। इन घाती कर्मों के नष्ट होने पर साधक की आत्मा अत्यन्त, निर्मल, विशुद्ध हो परमात्मदशा को प्राप्त कर लेती है। यही अर्हत् अथवा जीवनमुक्त अवस्था है, जिसमें मन, वचन, काया की प्रवृत्ति रहते हुए भी कर्म बन्ध नहीं होता। शरीर छोड़ने पर जिस निर्वाण-दशा की प्राप्ति होती है, वह सिद्ध-अवस्था है। जैनधर्म साधना का अन्तिम लक्ष्य इसी अर्हत् और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. उपासना की विविध साधना पद्धतियाँ

आत्मा और परमात्मा, जिन और शिव के पारस्परिक सम्बन्धों और स्वरूप को लेकर विविध उपासना पद्धतियों का विकास हुआ है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में जब सृष्टि के प्रांगण में जीव ने आँखें खोली होंगी तो विविध प्राकृतिक दृश्यों और शक्तियों को देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया होगा। प्राकृतिक घटनाओं और बदलते हुए दृश्यों को उसने उत्सुकता, जिज्ञासा और कुतूहल भरी दृष्टि से देखा होगा। इसी मनःस्थिति में उसने पंच तत्त्वों -- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की शक्तियों के रूप में विभिन्न देवों की कल्पना की होगी। ज्यों-ज्यों उसका सम्पर्क विविध शक्तियों से होता गया, उसकी देव कल्पना विस्तार पाती गयी और बहुदेववाद की धारणा पुष्ट होती गयी, पर जब बहिर्मुखी उत्सुकता और जिज्ञासा कम होने लगी, तर्क और ज्ञान सूक्ष्म होने लगा तो बहुदेववाद से पंचदेव उपासना और त्रिदेव -- ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिष्ठा के क्रम में एक ब्रह्म-एकेश्वरवाद, एकत्ववाद, निर्गुण-निराकार, निरंजनशक्ति जो सर्वोपरि है, सर्व शक्तिमान हैं, की धारणा पुष्ट बनी। यह निर्गुण-निराकार ब्रह्म कहीं बाहर नहीं। इसकी उपासना ने बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाया। ज्ञान, योग, ध्यान और सदाचार उपासना के मुख्य अंग बने, पर सर्व साधारण के लिए निर्गुण-निराकार उपासना सहज-सरल न थी। अतः अवतारवाद के रूप में सगुण-साकार उपासना सामने आयी, जिसमें विभिन्न अवतार परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुए। भक्ति, समर्पण, स्तुति, स्तवन इस उपासना के मुख्य अंग बने। दोनों उपासनाओं का मुख्य उद्देश्य विकारों को दूर कर शुद्ध और निर्मल बनकर परमात्मा से साक्षात्कार करना रहा है। सगुण-साकार रूप में आलम्बन की प्रवृत्ति होने से मन की एकाग्रता सधने में विशेष सहायता मिलती है। यह सगुण-साकार आलम्बन प्रारम्भ में मंगल चिह्न स्वस्तिक, ध्वज, कलश, वृक्ष आदि के रूप में सामने आया। कालान्तर में इसने स्मृति चिह्न का रूप ग्रहण किया। चिता पर बनाये जाने वाले ऐसे स्मृति चिह्न आगे चलकर स्तूप और चैत्य कहे जाने लगे। मथुरा व अन्यत्र हुई खुदाई से प्राप्त पुरातात्विक अवशेष आयागपट्ट इसी प्रकार के प्रतीक चिह्न हैं। इनके साथ सम्बन्धित महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट घटनाओं की स्मृति जुड़ी हुई थी। उसका स्मरण कर जीवन में विशेष प्रेरणा जगे, यह अभीष्ट था। इनके साथ किसी चमत्कार, अतिशय या पूज्य भाव का जुड़ाव नहीं था, न उनकी पूजा होती थी। फोटोग्राफी का विकास होने पर जिस प्रकार आज हम अपने पूर्वजों या परिचितों के चित्र संचित-संरक्षित करते हैं, ताकि उनकी स्मृति बनी रहे, पर हम उनकी न पूजा करते हैं, न किसी प्रकार की अभ्यर्थना करते हैं। प्राचीन जैन शास्त्रों में, अंग सूत्रों में चैत्य आदि के जो संकेत मिलते हैं, वे इसी रूप में स्मृति चिह्न होने सम्भावित हैं। चैत्य का अर्थ मूल रूप में उस अवस्था या स्थान से है, जहाँ साधक अपनी चित्तवृत्ति का, चेतना का अन्तरावलोकन, ध्यान करता है। इसी अर्थ में इसे ज्ञान से जोड़ा जा सकता है। बाद में चैत्य शब्द का अर्थ अपनी आन्तरिकता को छोड़कर बहिर्मुखी बन गया और उसका अर्थ मन्दिर किया जाने लगा।

भगवान् महावीर का युग बौद्धिकजागरण का युग था। चली आती हुई गतानुगतिक पारम्परिकता को उन्होंने झकझोरा। कहा जाता है उनके समय में 363 दार्शनिक मत प्रचलित थे। आजीवक मत का प्रवर्तक गोशालक अपने को तीर्थंकर मानता था। पूरण काश्यप, संजय वैलट्ठीपुत्र, पकुध कात्यायान, अजित केशकम्बल आदि प्रमुख दार्शनिक अपनी-अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। महावीर ने इन सबका आलोड़न-विलोड़न कर शुद्ध चेतना के स्तर पर आत्मवादी धर्म की प्रतिष्ठा की, जिसमें इन्द्रियजयता और आत्मानुभव प्रमुख थे, पर महावीर के साथ ही तीर्थंकर परम्परा समाप्त हो गयी।

उनके प्रथम एवं ज्येष्ठ शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम को उसी रात्रि केवलज्ञान हो गया, जिस रात्रि महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। इस कारण इन्द्रभूति गौतम महावीर के धर्म संघ के उत्तराधिकारी न बन सके और गणधर सुधर्मा प्रथम पट्टधर- उत्तराधिकारी बने। सुधर्मा के बाद जम्बूस्वामी द्वितीय पट्टधर हुए। जम्बूस्वामी के साथ केवलज्ञान की परम्परा समाप्त हो गयी। जम्बू अन्तिम केवली थे। केवली काल के बाद श्रुतकेवली काल प्रारम्भ होता है। यह काल वीर निर्वाण सं. 64 से 170 तक कुल 106 वर्ष तक चलता है। इस काल में आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभवस्वामी, आचार्य शय्यंभव, आचार्य यशोभद्र, आचार्य संभूतिविजय और आचार्य भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। उसके बाद वीरनिर्वाण सं.. 170 से 584 (414 वर्ष) का काल 10 पूर्वधर काल कहलाता है। इस काल में आचार्य स्थूलभद्र, आचार्य महागिरि, आचार्य सुहस्ती जैसे आचार्य हुए। वीरनिर्वाण सं. 584-1000 तक (416 वर्ष) का काल सामान्य पूर्वधर काल है। इस काल में आर्यरक्षित, आचार्य वज्रसेन, आचार्य नागार्जुन, आचार्य भूतदिन्न, आचार्य देवर्धिक्षमाश्रमण जैसे महान् आचार्य हुए। इस युग तक आते-आते स्मृति दोष के कारण श्रुत परम्परा से चले आये आगम पाठों में मतभेद हो गया। आचार्य देवर्धिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमण संघ की एक समिति वलभी (गुजरात) में हुई और स्मृति के आधार पर जैन आगम लिपिबद्ध किये गये। वर्तमान में जो जैन आगम प्रचलित हैं, वे इसी समिति की देन हैं।

पारम्परिक दृष्टि से यह माना जाता है कि महावीर के निर्वाण के लगभग 609 वर्षों के बाद जैनधर्म दो भागों में विभाजित हो गया -- दिगम्बर और श्वेताम्बर। जो मत साधुओं की नग्नता का पक्षधर था, वह दिगम्बर कहलाया अर्थात् दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं। जो मत साधुओं के वस्त्र-पात्र आदि का समर्थक रहा, वह श्वेताम्बर कहलाया अर्थात् श्वेत हैं वस्त्र जिनके। आगे जाकर दिगम्बर मत कई संघों में बँट गया। इनमें मुख्य हैं -- द्राविड़संघ, काष्टासंघ और माथुरसंघ। श्वेताम्बर संघ भी दो भागों में बँट गया -- चैत्यवासी और वनवासी।

कालप्रवाह के साथ भगवान महावीर ने जिस शुद्ध आत्मिक क्रांतिमूलक धर्म साधना का मार्ग प्रस्तुत किया, उसमें शुद्धता का भाव गौण होता चला गया और देववाद, मूर्तिवाद तथा उससे उत्पन्न विकृतियाँ घर करती गयीं। इन विकृतियों के कई ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक कारण हैं। ऐतिहासिक कारणों से दक्षिण भारत में पनपने वाला शैवमत, लिंगायत सम्प्रदाय तथा शंकराचार्य का अद्वैतवाद प्रमुख हैं। व्यापक स्तर पर जैनधर्म और उसके अनुयायियों के खिलाफ विद्रोह का वातावरण बना और इस संघर्ष ने सामूहिक हिंसा तक का रूप ले लिया। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जैन आचार्यों ने हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति, क्रियाकाण्ड और संस्कार विधि को अपना लिया। यहाँ तक कि जनेऊ भी धारण कर ली। भगवान् बुद्ध के मध्यम मार्ग को अपना कर जैनधर्म की कठोर तपश्चर्या विधि का भी सरलीकरण किया गया। इसके फलस्वरूप भी आचार-विचार में शिथिलता आयी। बौद्धधर्म की महायानशाखा में मूर्तिपूजा को स्थान मिला। धीरे-धीरे स्तुति, स्तवन एवं प्रेरणारूप भक्ति ने मूर्तिपूजा का स्थान लिया और कालान्तर में मूर्तिपूजा गुणानुराग भक्ति का प्रेरणा रूप न रह कर द्रव्य पूजा और तज्जन्य आडम्बरों, प्रदर्शनों में उलझकर रह गयी। साधु और श्रावक के लिए आगम ग्रन्थों में जो षट्कर्म संकेतित हैं। वे हैं-- सामायिक चौबीस स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। ये षट्कर्म षडावश्यक कहे गये हैं। इनका मुख्य उद्देश्य पर-पदार्थों से हट कर अन्तर्मुखी होना है। इनमें वीतराग प्रभु की स्तुति और स्तवन का उल्लेख है। मूर्ति प्रतिष्ठा और मूर्तिपूजा का संकेत नहीं है। उपासकदशांग, भगवतीसूत्र, आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा, समवायांग, ठाणांग आदि आगम ग्रन्थों में जहाँ श्रावकाचार का वर्णन आया है, वहाँ कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है। चैत्य और यक्षायतन का जहाँ उल्लेख है उसका अर्थ जिन-मूर्तिप्रतिष्ठित मन्दिरों से नहीं है। साधुओं के लिए तो आज भी व्यापक रूप में मन्दिर निर्माण और मूर्तिपूजा का प्रचलन होने पर भी मूर्तिपूजन व्यवहार में नहीं है।

3. मूर्तिपूजा के नाम पर विकृतियाँ

जब जैनधर्म अपने आत्म केन्द्र से हट कर परिधि की ओर मुड़ा तो उसमें नाना प्रकार की विकृतियाँ घर कर गयीं। यही नहीं मूल आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, टीका, वचनिका आदि रूप में जो व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं, उस साहित्य में आचार्यों और भाष्यकारों ने विभिन्न कथाओं, घटनाओं और चरित्र का इस प्रकार विवेचन-विश्लेषण किया, जिनसे जिन-मन्दिर निर्माण, मूर्तिपूजा और विभिन्न प्रतिष्ठा समारोह की पुष्टि होती है। यह लेखन परवर्ती द्रव्य पूजा के प्रभाव का परिणाम लगता है। नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि द्वारा रचित "आगम अट्ठोतरी" की निम्नलिखित गाथा इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है --

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"देवड्ढि खमासमण जा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा।।

अर्थात् -- देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक जो भाव परम्परा (भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल परम्परा) अक्षुण्ण रूप से चलती रही। यह मैं जानता हूँ पर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर साधु प्रायः शिथिलाचारी बन गये और उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराएँ स्थापित कर दी गयीं।

इसके परिणामस्वरूप साधुचर्या में कई प्रकार की शिथिलता घर कर गयी। विक्रम की 12वीं शती के प्रभावक आचार्य जिनवल्लभसूरि ने "संघपट्टक" नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें चैत्यवासी परम्परा के साधुओं के 10 नियमों का संकेत मिलता है। इन नियमों में मुख्य हैं-- श्रमण-श्रमणियों के लिए बनाये गये आहार को ग्रहण करना, उसमें दोष न मानना, जिन मन्दिरों में साधु-साध्वियों का सदा के लिए नियतवास करना, साधु द्वारा धनसंग्रह करना, गृहस्थों को उपदेश, गुरु-मन्त्र आदि देकर अपने पीढ़ी-प्रपीढ़ी के श्रावक बनाना, जिन मन्दिरों को अपनी सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करना। ऐसे सिंहासनों पर बैठना जिनका प्रतिलेखन-प्रमार्जन सम्भव नहीं है। इनके पूर्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'संबोध प्रकरण' में इसकी कड़ी आलोचना की थी।

द्रव्य पूजा की परम्परा बहिर्मुखी वृत्ति से जुड़ने के कारण धीरे-धीरे सभी वर्ग के लोगों में, अधिकाधिक प्रिय होती चली गयी। इसके प्रचार-प्रसार में दक्षिण के गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, होयसल्ल आदि राजवंशों से भी उल्लेखनीय योगदान मिला। आचार्यों द्वारा मूर्तिपूजा को दैनिक धार्मिक कर्तव्यों में स्थान दिया गया। परिणामस्वरूप देवी-देवताओं के स्थान पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की जाने लगीं और बड़ी संख्या में जिन-बिम्ब एवं जिन-मन्दिरों का निर्माण हुआ। मंदिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने के लिए बड़े-बड़े समारोह आयोजित होने लगे। इन समारोहों के साथ विविध प्रकार के चमत्कार, अतिशय आदि जुड़ गये और जड़मूर्ति को सचेतन करने की भावना से बड़े-बड़े हवन और मंत्रोच्चार होने लगे। यह माना जाने लगा कि इन सब के पुण्य प्रभाव से ही मूर्ति में पूज्यता का भाव आता है और उसकी पूजा-उपासना हमारी कामनापूर्ति में सहायक बनती है। समय-समय पर मुनियों और आचार्यों की प्रेरणा से पंचकल्याणक, अंजनशलाका जैसे महोत्सव आयोजित किये जाने लगे। इन महोत्सवों में अलग-अलग पूजा विधानों के लिए बड़ी-बड़ी बोलियाँ बोल कर धन इकट्ठा किया जाने लगा। यथा जन्मकल्याणक महोत्सव पर इन्द्र-इन्द्राणी बन कर लोग जिन प्रतिमा को अभिषेक का लाभ लेकर अपने को धन्य मानते। विभिन्न पर्व और त्योहारों पर जिन-मूर्ति को रजत, स्वर्ण, हीरे, रत्न जड़ित विविध आकर्षक और मोहक बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत किया जाता और उनकी पूजा में अष्ट द्रव्य-जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल चढ़ाये जाते और पंचामृत से उनका प्रक्षालन किया जाता। इन सबके लिए प्रतिस्पर्धात्मक बोलियाँ बोली जातीं। जिनसे विपुल राशि के रूप में देव-द्रव्य इकट्ठा होता रहा। इस प्रकार मूर्तिपूजा आत्मशुद्धि और वीतराग भाव की प्रेरणा देने के प्रतीक से हट कर वैभव और प्रदर्शन की प्रतीक बन गयी। पूजा-पद्धति और उपासना विधि के नाम पर कई गच्छ और सम्प्रदाय बन गये तथा तीर्थ क्षेत्रों को लेकर परस्पर संघर्ष और विग्रह पैदा हो गया। परिणामस्वरूप मंदिर और मूर्ति राग-द्वेष को दूर करने के बजाय राग-द्वेष की वृद्धि करने के कारण बन गये।

आत्मशुद्धि और कषाय उपशान्तता का उद्देश्य गौण होकर जब भौतिक कामना पूर्ति का लक्ष्य प्रधान बन गया तो न केवल वीतरागप्रभु की मूर्ति को भौतिक पदार्थों से सजाया-संवारा जाने लगा वरन् भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए तीर्थंकरों के शासन देव-देवियों की पूजा उपासना की जाने लगी। यहाँ तक कि शासन देव-देवियाँ ही पूजा के मुख्य केन्द्र बन गये। पार्श्वनाथ गौण हो गये और उनके भैरव तथा पद्मावती देवी प्रधान बन गयी। देव मन्दिरों का परिवेश, विधि-विधान, व्यवस्था क्रम किसी सामन्तशाही विधि विधान से कम न रहा। चमत्कार और ईश्वर कर्तृत्व के खिलाफ क्रांति फूँकने वाला जैनधर्म स्वयं चमत्कार में उलझ गया और जिनेन्द्र भगवान के सामने उन्हें अपने सुख-दुःख का कर्त्ता मानकर गिड़गिड़ाने लगा। दीन-हीन बनकर उनके सामने याचना करने लगा। भौतिक सुख के लिए, इन्द्रिय भोगों के लिए, सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए जन्त्र-मन्त्र और टोने-टोटकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आकर्षण ने जन-साधारण के पुरुषार्थ भाव को सुषुप्त कर दिया। क्रर्मवादी जैन धर्मानुयायी दैवीयकृपा का दास बनकर रह गया।

4. अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव और विकास

मूर्तिपूजा के नाम पर बढ़ती हुई इन विकृतियों के फलस्वरूप न केवल जैन धर्म में वरन् अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी जबरदस्त क्रांति की लहर आयी। सभी धर्मों में मोटे तौर पर निर्गुण ब्रह्म को ही सर्वोपरि शक्ति के रूप में माना गया, है। गुण का एक अर्थ है रस्सी। रस्सी बाँधने के काम में आती है। अतः रस्सी का लक्ष्यार्थ हुआ बंधन। निर्गुण अर्थात् नहीं बंधना, बन्धन रहित, मुक्त। निर्गुण उपासना में मुख्य लक्ष्य सांसारिक बन्धनों से रहित होना है। सगुण उपासना में आराध्य के गुणों से बँधने का भाव रहता है। आराध्य के गुण जब साधक में स्वयं आविर्भूत हो जाते हैं तब निर्गुण और सगुण उपासना के लक्ष्य में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रहता। महाकवि तुलसीदास ने "निगुणहिं सगुणहिं, नहिं कुछ भेदा" कह कर इसी ओर संकेत किया है, पर जब सगुण उपासना के नाम पर परमात्मा के गुणों को आत्मसात् करने की दृष्टि और प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है तथा बाह्य सांसारिक वैभव और भौतिक समृद्धि की प्राप्ति प्रमुख लक्ष्य बन जाती है, तब धर्म, धर्म नहीं रहता, वह व्यवसाय बन जाता है। मूर्तिपूजा के नाम पर जब व्यावसायिक वृत्ति और भोग प्रवृत्ति पनपने लगी तब आत्मवादी धर्म-चिन्तकों और अध्यात्म योगी सन्तों ने इसका डटकर विरोध किया। अरब देशों में जब जाति और कबीलों के मुख्य पुरुषों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा होने लगी और बड़ी संख्या में हर जाति व कबीले के अलग-अलग देव खड़े हो गये तो मुहम्मद साहब ने मूर्तिपूजा के खिलाफ जिहाद छेड़ा। सिखधर्म में मूर्ति के स्थान पर गुरुग्रन्थ पूज्य है। विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक जामोजी (सं. 1508-93), जसनाथी सम्प्रदाय के प्रवर्तक जसनाथजी (सं. 1539-63) निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदासजी (सं. 1512-95) तथा प्रसिद्ध सन्त कबीर अमूर्तिपूजक परम्परा के ही आध्यात्मिक पुरुष थे। 15वीं-16वीं शतीं में मूर्तिपूजा के खिलाफ जो तीव्र लहर उठी, उसकी आहट के स्वर बराबर सुने जाते रहे हैं।

जैन परम्परा में भगवान महावीर के बाद जो विभिन्न गच्छ और सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, उनमें मोटेतौर पर उत्तरोत्तर सुधारक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने "अष्टपाहुड" के अन्तर्गत "बोधपाहुड" में आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, देव, तीर्थ आदि का जो वर्णन किया है, वह एक प्रकार से निर्ग्रन्थ साधुओं के स्वरूप का ही वर्णन है। उनके अनुसार जिन मार्ग में संयम के धनी मुनिराज ही आयतन हैं। षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले संयमी, आत्मज्ञानी मुनिराज ही चैत्यगृह हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनियों की चलती-फिरती जंगम देह ही जंगम प्रतिमा है। अष्टकर्म रहित अनन्त चतुष्टय सहित देह रहित अचल सिद्धभगवान ही स्थावर प्रतिमा हैं। कर्म क्षय के कारण ही शुद्ध शिक्षा और दीक्षा देने वाले वीतरागी, संयमी आचार्य देव ही वस्तुतः जिन देव के प्रतिबिम्ब हैं। जिनकी मुद्रा इन्द्रिय-विषयों और कषाय भावों का मर्दन करने वाली हैं ऐसे आचार्य देव ही वास्तव में जिन मुद्रा हैं, जिसका मोह नष्ट हो गया है, वह देव है। जिससे तिरा जाए, वह तीर्थ है।

चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों ने भी इन विकृतियों के खिलाफ क्रियोद्धार का शंखनाद किया था। 11वीं शतीं के वर्धमान सूरि, उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि, जिनदत्तसूरि, जगचन्द्रसूरि आदि उल्लेखनीय हैं। खरतरगच्छ, तपागच्छ, अंचलगच्छ, आगमिकगच्छ, बड़गच्छ आदि अपनी सीमा में इन विकृतियों का विरोध करते रहे हैं। पर इनका विरोध अधिक प्रभावी नहीं बन सका और मूर्तिपूजा के नाम पर आयी हुई विकृतियाँ बढ़ती रहीं।

जैन परम्परा में मूर्तिपूजा के खिलाफ जबरदस्त विरोध करने वाले 15वीं-16वीं शताब्दी में दो महापुरुष हुए। लोकाशाह और तारणस्वामी। लोकाशाह से लोकागच्छ और तारणस्वामी से तारणपंथ विकसित हुआ। लोकाशाह की विचारधारा पर आधारित स्थानकवासी सम्प्रदाय का वर्तमान में काफी प्रभाव है। स्थानकवासी सम्प्रदाय से ही 18वीं शती में तेरापन्थ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। इसके प्रवर्तक सन्त भीखणजी थे। इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है --

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. लोकाशाह और स्थानकवासी सम्प्रदाय

लोकाशाह एक क्रांतिकारी, अध्ययनशील, निर्भीक और साहसी श्रावक थे। इनकी जन्मतिथि, जन्म-स्थान, दीक्षा आदि के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इनके जन्म के सम्बन्ध में मोटेतौर से तीन मत प्रचलित हैं -- सं. 1472, 1475 और 1482। कार्तिक पूर्णिमा इनकी जन्म तिथि मानी जाती है। जन्म स्थान के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। अर्हट्टवाड़ा (सिरोही), पाटन, अहमदाबाद, लिंबडी और जालोर का नाम लिया जाता है। बहुत सम्भव है "अर्हट्टवाड़ा" इनकी जन्म भूमि रही हो। धार्मिक क्रांति का विशेष कार्य अहमदाबाद से ही हुआ। इनके माता-पिता के नाम के सम्बन्ध में भी मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि अर्हट्टवाड़ा के चौधरी हेमाभाई इनके पिता थे और माता का नाम था गंगाबाई था। इनका विवाह सिरोही के प्रसिद्ध सेठ शाह औधवजी की सुपुत्री सुदर्शना के साथ हुआ, जिनसे पूर्णचन्द नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। जब ये 23 वर्ष के थे इनकी माता का और 25वें वर्ष में पिता का देहान्त हो गया। इनका निधन सं. 1546 में चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ माना जाता है।

लोकाशाह मधुरभाषी, अध्यवसायी और प्रभावशाली व्यक्ति थे। सिरोही और चन्द्रावती इन दोनों राज्यों के बीच युद्धजन्य स्थिति के कारण अराजकता और व्यापारिक अव्यवस्था फैल जाने से ये अहमदाबाद आ गये और जवाहरात का व्यापार करने लगे। अल्पसमय में ही इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। कहा जाता है कि अहमदाबाद के तत्कालीन शासक मोहम्मदशाह के दरबार में सूरत का एक जौहरी दो मोती लेकर आया। बादशाह ने इनकी परख के लिए शहर के प्रमुख जौहरियों को बुलाया। सभी जौहरियों ने दोनों मोतियों को सच्चा बताया, पर लोकाशाह ने एक मोती को सदोष और दूसरे को नकली बताया। मोती की इस परीक्षा को देखकर बादशाह इनकी विलक्षण बुद्धि से अत्यन्त प्रभावित हुआ और इन्हें अपना कोषाध्यक्ष बना दिया। इस पद पर वे दस वर्ष तक रहे। पर जब मोहम्मदशाह को उसके पुत्र कुतुबशाह ने जहर देकर मार डाला तो इस क्रूर हत्या से लोकाशाह का हृदय पसीज गया और राग-रंग से उन्होंने मुक्ति ले ली। लोकाशाह सत्यान्वेषक और तत्त्व चिन्तक थे। उनके अक्षर बड़े सुन्दर थे। एक बार ज्ञानसुन्दर नामक एक यति इनके यहाँ गोचरी के लिए आये। इनके सुन्दर अक्षरों को देखकर उन्होंने लोकाशाह को शास्त्रों की नकल करने के लिए कहा। शास्त्रों की नकल करते हुए जब इनका ध्यान दशवैकालिकसूत्र की निम्नलिखित प्रथम गाथा पर गया तो वे चिन्तन में डूब गये--

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।। 1 ।।

वे विचार करने लगे कि भगवान महावीर ने अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म को सर्वश्रेष्ठ मंगल कहा है और इस धर्म का आचरण करने वाले को देवता भी नमस्कार करते हैं, पर वर्तमान में तो लोग पाषाण-प्रतिमारूप देवताओं को नमन करने में लगे हुए हैं। ज्यों-ज्यों उनका शास्त्राभ्यास बढ़ता गया, धर्म के नाम पर बढ़ती हुई विकृति को देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें लगा कि धर्म में अहिंसा का स्थान हिंसा ने ले लिया है। उसके विधि-विधान या द्रव्य पूजा आदि के बाहरी संस्कार में उन्हें हिंसा दिखाई दी। आत्म-संयम की बजाय मनौती के नाम पर इन्द्रियभोग की कामना का प्रवाह उमड़ता हुआ दिखाई दिया। तप के नाम पर उन्हें लगा कि साधु वर्ग सुख-सुविधाओं का आदी बनता जा रहा है। लोकाशाह ने अहिंसा, संयम और तप रूप शुद्ध आत्मधर्म की आराधना के लिए पाषाण-प्रतिमारूप जड़ पूजा का आलम्बन छोड़कर समताभावरूप सामायिक-प्रतिक्रमण को महत्त्व दिया, आत्मगुणवृद्धिरूप पौषध व्रत पर विशेष बल दिया। भक्ति के स्थान पर ज्ञान का, ध्यान का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया और मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान से कुछ माँगने के बजाय परिग्रह-वृत्ति से मुक्त होने के लिए भूखों को भोजन, रोगियों को औषधि, भयग्रस्त प्राणियों को अभय एवं अशिक्षितों को ज्ञान देने की महत्ता प्रतिपादित की। उन्होंने मूर्तिपूजा के स्थान पर गुरुवंदन, सत्संग, स्वाध्याय और सदाचरण पर बल दिया। सजे-सजाये मन्दिरों में रहने की बजाय साधारण स्थानकों में ठहरने की बात कही। जंत्र-मंत्र, टोने-टोटके, आडम्बर-प्रदर्शन आदि विधि-विधानों का विरोध किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके क्रांतिमूलक विचारों से लोग बड़े प्रभावित हुए। कहा जाता है कि अर्हट्ठवाडा, पाटन, सूरत आदि संघों के नागजी, दुलीचन्दजी, मोतीचन्दजी तथा शंभूजी, ये चारों संघपति जब लोकाशाह से मिले, उनके विचार सुने तो विशेष प्रभावित हुए। कहा जाता है कि सं. 1531 में 45 व्यक्तियों ने इनके विचारों से प्रेरित-प्रभावित होकर जैन दीक्षा अंगीकृत की।

इनके नाम पर इनका मत लोकागच्छ कहा जाने लगा। पर यह शीघ्र ही तीन भागों में बँट गया। गुजराती लोकागच्छ, नागोरी लोकागच्छ, लाहोरी उत्तरार्द्ध लोकागच्छ। आगे चलकर इस मत में भी धर्म के नाम पर शिथिलता बढ़ी। तब मुनि जीवराजजी, लवजी, धर्मसिंहजी और धर्मदासजी ने क्रान्ति की और स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व में आया। धर्मदासजी के हरजी धन्नाजी आदि २२ शिष्यों के नाम पर यह सम्प्रदाय बाईस टोला भी कहलाता है। वर्तमान में इस सम्प्रदाय में श्रमण संघ के आचार्य श्री आनन्दऋषिजी, आचार्य श्री रतनचन्द्रजी म. के सम्प्रदाय के आचार्य हस्तीमलजी एवं आचार्य श्री हुकमीचन्दजी म. की परम्परा के आचार्य नानालालजी म. मौजूद हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य आनन्दऋषिजी एवं आचार्य हस्तीमलजी का अब स्वर्गवास हो गया है। मुनियों के स्थानक में रहने के कारण यह सम्प्रदाय स्थानकवासी कहा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-गुण ही जिसका स्थान है, वह स्थानकवासी है।

लोकाशाह का अपने समय में बड़ा विरोध हुआ। उनके सम्बन्ध में अधिकांश जानकारी उनके विरोध में लिखे गये साहित्य से ही प्राप्त होती है। लोकाशाह ने जिस साहित्य की रचना की, वह आज पूरे रूप में उपलब्ध नहीं है। उनके चौतीस बोल, अट्ठावन बोल तथा उनसे पूछे गये तेरह प्रश्नों के उत्तर आदि उपलब्ध हैं।

2. श्वेताम्बर तेरापन्थ

श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त भीखणजी हैं। इनका जन्म जोधपुर राज्य के कंटालिया ग्राम में सं. 1783 की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। इनके पिता का नाम शाह बल्लूजी संकलेचा और माता का नाम दीपाबाई था। ये सत्यशोधक, दम्भविरोधी, सुधारवादी प्रवृत्ति के धर्म जिज्ञासु व्यक्ति थे। इनके माता-पिता गच्छवासियों (यतियों) के अनुगामी थे। वहाँ इनकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई तो ये पोतियाँबन्ध सम्प्रदाय के साधुओं के पास व्याख्यान आदि सुनने जाया करते, पर वहाँ भी इनको संतोष नहीं हुआ तो ये स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री रघुनाथजी के अनुगामी बन गये और सं. 1808 में उनसे बगड़ी में दीक्षा अंगीकृत कर ली। सं. 1815 में इनका चातुर्मास राजनगर (मेवाड़) में हुआ। इनके साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभानजी और भारमलजी ये चार साधु थे। राजनगर के श्रावकों में साधु समाज के आचार-विचार को लेकर कई शंकाएँ थीं। स्थान, वस्त्र-पात्र सम्बन्धी मर्यादा, शिष्य मोह आदि को लेकर ये वर्तमान आचार व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे। सन्त भीखणजी की उनके साथ ज्ञान चर्चा हुई और अन्ततः उन्हें लगा कि वर्तमान आचार-व्यवस्था में सुधार की अपेक्षा है।

आचार्य रघुनाथजी के सान्निध्य में पहुँचकर सन्त भीखणजी ने राजनगर के श्रावकों की शंकाओं को सही बताया और उसमें सुधार के लिए आग्रह किया। कहा जाता है कि रघुनाथजी के साथ मतभेद होने के कारण उन्होंने उनसे बगड़ी में सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। यह घटना सं. 1817 चैत्र शुक्ला नवमी की है। सन्त भीखणजी के साथ 12 अन्य साधु थे। उनके नाम हैं -- थिरपालजी, फतेहचन्दजी, वीरभाणजी, टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी, लक्ष्मीचन्दजी, बख्तरामजी, गुलाबचन्दजी, भारमलजी (दूसरे), रूपचन्दजी और प्रेमजी।

कहा जाता है कि एक दिन जोधपुर के श्रावक बाजार में एक दुकान पर सामायिक कर रहे थे। उस दिन जोधपुर राज्य के दीवान श्री फतेहमलजी सिंघी ने उन श्रावकों को बाजार में सामायिक करते देखा तो कुछ आश्चर्य हुआ, पूछने पर पता चला कि सन्त भीखणजी आचार्य रघुनाथजी से अलग हो गये हैं इनका मानना है कि साधुओं के निमित्त बने हुए स्थानक में नहीं ठहरना चाहिये। अतः स्थानक छोड़कर वे यहाँ सामायिक कर रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूछने पर यह भी ज्ञात हुआ कि स्वामीजी की इस विचारधारा का समर्थन करने वाले 13 साधु हैं। इस पर उस समय सिंघीजी के साथ सेवक जाति का एक कवि भी था। उसने 13 की संख्या के आधार पर स्वामीजी के संघ को "तेरापंथी" नाम से संबोधित करते हुए निम्न दोहा कहा --

"साध साधको गिलो करै, ते आप आपरो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोकां, ए तेरापंथी संत।।

जब यह घटना सन्त भीखणजी के पास पहुँची तो उन्होंने तेरापंथी शब्द को नया अर्थ देते हुए कहा-- हे प्रभु ! यह तेरा (तुम्हारा) पंथ है। हम सब निभ्रान्त होकर इस पर चलने वाले हैं। अतः तेरापंथी हैं। तेरह संख्या का औचित्य प्रकट करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, इस तरह तेरह नियमों की पूर्णरूप से श्रद्धा तथा पालन करने वाले व्यक्ति तेरह-पंथी हैं।

सन्त भीखणजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की तरह ही मूर्तिपूजा का विरोध किया, पर दया, दान सम्बन्धी जो प्रवृत्ति स्थानकवासी समाज में प्रचलित थी, उसका उन्होंने आत्मधर्म के रूप में समर्थन नहीं किया और इससे होने वाले पुण्य को लौकिक धर्म कहा। उन्होंने अहिंसा के नकारात्मक पक्ष अर्थात् "मत मारो" पर विशेष बल दिया। मरते हुए को बचाओ, जीवों की रक्षा करो, इसे उन्होंने मोक्ष का कारण नहीं माना। अपने धर्म के प्रचार में इन्हें कई प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ा। मारवाड़, मेवाड़ तथा कच्छ इनका धर्म प्रचार का क्षेत्र रहा। कच्छ प्रदेश में ये स्वयं न जा सके पर इनके श्रावक टीकम डोसी ने इनके मत का प्रचार किया। भीखणजी ने अपने जीवनकाल में 49 साधुओं और 56 साध्वियों को दीक्षित किया। जैन तत्त्व की इन्होंने काव्यमय अभिव्यक्ति की। इनकी शताधिक रचनाओं का संकलन 'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर' में दो भागों में हुआ है। इनकी कविता में दार्शनिकता और लोकतत्त्वों का अनूठा संगम है। इनका निधन सं. 1860 में माघ सुदी तेरस को हुआ। इनके बाद इस पन्थ में जो आचार्य हुए वे हैं -- आचार्य भारमलजी, आचार्य रायचन्दजी, आचार्य जीतमलजी (जयाचार्य), आचार्य मघवागणी, आचार्य मणिकगणी, आचार्य डालगणी, आचार्य कालूगणी और आचार्य तुलसी। आचार्य तलुसी ने इस पंथ में कई नये आयाम जोड़े और कई क्रांतिकारी परिवर्तन किये -- आचार-विचार दोनों स्तरों पर। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के रूप में नैतिक उत्थान और चरित्र निर्माण के उद्देश्य से राष्ट्रव्यापी अभियान चलाया और जैनधर्म को केवल जैनकुल में जन्मे लोगों तक सीमित न रखकर उसे राष्ट्रव्यापी बनाया। समाज के विभिन्न वर्गों में सद्-संस्कार जागृत हों, इसके लिए अणुव्रत के रूप में छोटे-छोटे व्यावहारिक नियम प्रस्तुत किये। विगत वर्षों में तनाव-मुक्ति, मानसिक स्वास्थ्य और जीवन में आन्तरिक रूपान्तरण के लिए प्रेक्षाध्यान के कई नये प्रयोग किये हैं। वर्तमान शिक्षा पद्धति केवल जीव-विज्ञान बनकर न रहे, वह जीवन-विज्ञान बने, इस दृष्टि से शिक्षा को साधना, अहिंसा, ध्यान और सेवा से संयुक्त करने के लिए लाडनूं में "जैन विश्व भारती" की स्थापना की है।

3. तारणपंथ

जैन श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवासी यति परम्परा के समानान्तर जैन दिगम्बर परम्परा में भट्टारक सम्प्रदाय द्वारा धर्म-प्रचार, साहित्य-निर्माण एवं साहित्य-संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया, पर धर्म का जो अहिंसा, संयम और तपनिष्ठ रूप था, उसमें विकृति आई और भक्ति के नाम पर प्रदर्शन व आडम्बर बढ़ा। भट्टारक वैभवशाली सामन्त से बन गये और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति मठ-मन्दिरों में इकट्ठी हो गई। आन्तरिक पवित्रता और सदाचरण का स्थान मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा-समारोह और द्रव्य पूजा ने ले लिया। पंच कल्याणकों के बड़े-बड़े आयोजन आन्तरिक शुद्धि की बजाय लोक-प्रतिष्ठा के माध्यम बन गये। हवन, जंत्र-मंत्र, टोने-टोटकों में ही धर्माचार उलझकर रह गया। भक्ति के केन्द्र में धर्माचरण नहीं, धन प्रमुख बन गया। इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। श्वेताम्बर परम्परा में जिस प्रकार लोकाशाह ने मूर्तिपूजा का विरोध किया, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में तारण स्वामी ने मूर्तिपूजा का विरोध किया। इन्हीं के द्वारा तारणपन्थ का प्रवर्तन हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारणस्वामी का जन्म पुहुपावती नगरी में विक्रम संवत् 1505 (ई.स. 1448) में हुआ। इनके पिता का नाम गढ़ासाब था। वे दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी के दरबार में किसी पद पर काम करते थे। बाद में वे दिल्ली छोड़कर पुहुपावती आ गये। तारणस्वामी बचपन से ही बड़े मेधावी और अध्ययनशील थे। इनकी शिक्षा श्री श्रुतसागर मुनि के पास हुई। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और धर्म ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर मूर्तिपूजा के नाम पर प्रचलित बाह्य आडम्बर का विरोध कर इन्होंने आत्मशुद्धि मूलक धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया।

तारणस्वामी ने बराबर यह बात कही कि यदि हृदय पवित्र भावना से रिक्त है तो जड़ पूजा से क्या लाभ ? पूजा पद्धति में ऊँच-नीच के भेद-भाव का इन्होंने विरोध किया और कहा -- महावीर के शासन में मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक को समान अवसर और स्थान प्राप्त है। इन्होंने सभी जाति और वर्ण के लोगों को आत्मधर्म का उपदेश दिया और मूर्तिपूजा के स्थान पर ग्रन्थपूजा की प्रतिष्ठा की। इनके शिष्यों में प्रमुख थे -- चिदानन्द चौधरी, लक्ष्मण पाण्डेय, परमानन्द विलासी और लुकमान शाह, जो मुसलमान था। इनके प्रभाव से कई राजाओं ने भी इनके मत को स्वीकार किया। इनमें गुजरात के राजा शिवकुमार, शाहकुमार तथा रायसेनगढ़ के राजा मुख्य थे। लाखों की संख्या में इनके अनुयायी हुए। तारणपन्थ को मानने वालों में चरणागार, समैया, असेठी, अयोध्या, गोलापूरब आदि जाति के लोग मुख्य हैं।

तारणस्वामी द्वारा रचित 14 ग्रन्थों का उल्लेख डॉ. तेजसिंह गौड़ ने किया है। उनके नाम हैं -- 1. श्रावकाचार 2. मालाजी, 3. पंडितपूजा, 4. कमल बत्तीसी, 5. न्यायसमुच्चसार, 6. उपदेशशुद्धसार, 7. त्रिभंगीसार, 8. चौबीस ढाला, 9. मम्मल पाहुड, 10. सुन्न स्वभाव, 11. सिद्ध स्वभाव, 12. खातका विशेष, 13. छद्मस्थवाणी, 14. नाममाला। ये ग्रन्थ 15वीं शती में प्रचलित संस्कृत-हिन्दी मिश्रित भाषा के हैं। इनमें पूजा के नाम पर होने वाले बाह्य क्रिया-काण्ड का विरोध करते हुए आन्तरिक शुद्धता, बाह्य-अभ्यन्तर तपस्या आचरण की पवित्रता और चित्त वृत्ति की निर्मलता पर विशेष बल दिया गया है। शुद्ध आत्मस्वरूप के वर्णन में आपकी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति और तत्वचिन्तना का पता चलता है।

पारम्परिक धार्मिक भक्तों ने तारणस्वामी का जबरदस्त विरोध किया। कई प्रकार के दबाव डाले गये, प्रलोभन दिये गये। यहाँ तक कि जान से मारने के प्रयत्न किये गये पर ये इन सबसे अप्रभावित रहे। बेतवा नदी के घाट से पार उतरने के लिये नौका का उपयोग किया जाता था। इस कारण वहाँ नौकाएँ तथा मल्लाह भी रहते थे। विरोधियों ने चिदानन्द चौधरी नामक एक मल्लाह को अपनी ओर मिलाकर यह सिखा दिया कि वह तारणस्वामी को अपनी नाव में बिठाकर ले जावे और गहरे जल में ले जाकर छोड़ दे। चिदानन्द चौधरी ने ऐसा ही किया। उसने स्वामीजी को एक-एक कर तीन बार गहरे जल में ले जाकर डुबाने का प्रयत्न किया पर तीनों बार स्वामीजी जल के बीच चबूतरे पर बैठे हुए पाये गये। इस चमत्कार से प्रभावित होकर चिदानन्द इनका शिष्य बन गया। इस प्रकार इनका प्रभाव बढ़ता गया।

तारणस्वामी का निधन सं. 1572 में ज्येष्ठ कृष्णा 6 शुक्रवार को निसई क्षेत्र (मल्हारगढ, मध्यप्रदेश) में हुआ। विदिशा जिले की सिरोंज तहसील के जंगलों में स्थित सेमरखेड़ी भी आपका साधना स्थल रहा है। कहा जाता है कि यही इन्होंने मुनि दीक्षा ली थी।

4. वर्तमान स्थिति

इस प्रकार पन्द्रहवीं, सोलहवीं एवं सत्रहवीं शती में मूर्तिपूजा की विकृतियों के खिलाफ जो क्रांति की लहर उठी और उसके परिणामस्वरूप जिन अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव और विकास हुआ, उनके द्वारा आत्मशुद्धि हेतु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना व सदाचरण का पथ प्रस्तुत किया गया, उससे जागृति अवश्य आयी पर उसका जीवन पर परिवर्तनकारी, स्थायी व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा ऐसा प्रतीत होता है। मूर्तिपूजा के स्थान पर सामायिक, प्रतिक्रमण, दया, पौषध, दान आदि जिन सद्प्रवृत्तियों पर बल दिया गया, वे अपने मूल लक्ष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पूरी तरह प्राप्त नहीं कर सकीं। वे यांत्रिक बन गईं। अपनी सीमा में अधिकांशतः क्रिया (Doing) बनकर रह गईं, "होना" (Becoming) रूप न ले सकीं। परिणामस्वरूप मूर्ति का स्थान इन सम्प्रदायों में भी चित्र, कलैण्डर, पैंडल आदि लेते जा रहे हैं। दिखावा, आडम्बर और प्रदर्शन भी विभिन्न धार्मिक उत्सवों, तपस्या के जुलूसों आदि में देखा जा सकता है, गुणपूजा गौण होकर व्यक्ति पूजा प्रधान हो गई है। महावीर पीछे छूट गये हैं और अलग-अलग सम्प्रदायों के गुरु व आचार्य मुख्य बन गये हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता और आम्नायभेद से अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय भी ग्रस्त हैं।

मूर्तिपूजक मूर्ति के सामने याचना कर अपनी मनोकामना पूरी करना चाहते हैं तो लगता है, अमूर्तिपूजक भी अपनी धर्मकरणी का फल भौतिक समृद्धि की प्राप्ति मानने लगे हैं। धन और सम्पत्ति यहाँ भी धर्म-साधना के केन्द्र में घर करती जा रही है। परिग्रह और वैभव को पुण्य का फल माना जाने लगा है। वहाँ भगवान को भोग लगाया जाता है तो यहाँ स्वयं भोग भोगने की लालसा है। सच्चा धर्म भोग से छूटने में है, त्याग में है, पर त्याग अन्तर से न होकर दिखावे के लिए, नाम के लिये होने लगा है। मूर्ति अपने आप में जड़ है, तटस्थ है, राग-द्वेष से परे है, हम उसके साथ अपना सांसारिक सम्बन्ध जोड़कर उसे विकृत करते हैं। पर जहाँ मूर्ति नहीं है, व्यक्ति है, यदि उसकी भोगवृत्ति छूटी नहीं है, यशलिप्सा मिटी नहीं है तो वह अपने को भगवान् बनाकर, भक्तों से पूजा-सत्कार करवा कर भ्रांति पैदा कर सकता है। वर्तमान में बनने वाली इस स्थिति से प्रत्येक आत्म-साधक को सावधान रहने की आवश्यकता है।

---

* प्रो. नरेन्द्र भानावत, सी-235 ए, तिलक नगर, जयपुर-302004

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org